सार्वजनीन स्कूलीकरण और समानता*

उत्तर-कल्याणकारी राज्य में शिक्षा का अधिकार

कृष्ण कुमार

भाषान्तर : जनित जैन

शिक्षक प्रशिक्षण व उच्च-शिक्षा

चलिए अब प्रारम्भिक स्कूलीकरण व उच्च-शिक्षा के रिश्ते की बात की जाए। इस रिश्ते को शिक्षक प्रशिक्षण में देखा जा सकता है, शिक्षकों को एक औपचारिक प्रशिक्षण के जरिये तैयार करना भारत में कई मुश्किलों को जन्म देता रहा है। इसमें से कुछ मुश्किलों का आरटीई में मौजूद अपेक्षाओं के संदर्भ में विश्लेषण करते हैं। आरटीई कानून एक ऐसे समय में आया है जब भारत एक तरफ आर्थिक नीति के कल्याणकारी राज्य द्वारा नियंत्रित विरासत और दूसरी तरफ नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के बाजार द्वारा संचालित मॉडल के अनुरूप चलने के दवाबों के बीच की खींचतान से जद्दोजहद कर रहा है। ये खींचतान आरटीई के बनने और अमल में आने से कोई एक दशक से भी पहले शिक्षक प्रशिक्षण में दिखाई देने लगी थी, शिक्षक प्रशिक्षण के क्षेत्र में एक बड़ा बदलाव 1990 के दशक के मध्य में दिखाई दिया जबकि राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा परिषद (NCTE) को एक वैधानिक नियामक संगठन का दर्जा हासिल हो गया। इसकी शक्तियां 1995 में पारित एनसीटीई कानून द्वारा निर्धारित कर दी गईं। इनमें शिक्षक प्रशिक्षण प्रदान करने वाले संस्थानों को लाइसेंस देना, शिक्षाक्रम व संस्थानिक मानदंडों को तय करना, और शिक्षकों की भर्ती के लिए योग्यता निर्धारित करना शामिल था। यह जाहिर तौर पर एक बहुत बड़ा शासकीय कदम था।

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश जे एस वर्मा की अध्यक्षता में सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा कि एनसीटीई इस शासनादेश की पूर्ति नहीं कर सका बल्कि, यह व्यावसायिक हितों व प्रकार्यात्मक बाधाओं का शिकार बन गया जिसने प्रशिक्षण के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर विकृतियों और भ्रष्टाचार को पोषित किया (एमएचआरडी 2012)। अपने विश्लेषण व सुझावों को रखते वक्त आयोग द्वारा प्रस्तुत सघन दस्तावेजीकरण पर नजर डालते हुए हम यह कह सकते हैं कि शिक्षक प्रशिक्षण भारतीय शिक्षा व्यवस्था में काफी जटिलताओं से भरा क्षेत्र रहा है।

पुरानी बाधाओं से निजात मिली नहीं और कुछ नई चुनौतियों ने इसे दबोच लिया जो दरअसल सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य से सामने आईं। पुरानी बाधाओं में शामिल था संस्थाओं व पाठ्यक्रमों की अकादमिक दीनता, उनका उच्च-शिक्षा व शोध के संस्थानों से दुराव, और प्राथमिक व माध्यमिक कक्षाओं के प्रशिक्षण के बीच एक गहरी खाई। औपनिवेशिक दौर में इन विशेषताओं ने शिक्षक प्रशिक्षण को एक काफी यांत्रिक चरित्र प्रदान किया। आजादी के बाद इस क्षेत्र में हुआ विकास स्कूली शिक्षण में व्यवहारवाद के वैश्विक असर से अछूता नहीं रहा और शिक्षण प्रशिक्षण के यांत्रिक धारा में और भी तेजी आई। आधुनिकीकरण ने एक स्व-आश्वस्त यंत्रवाद का रूप ले लिया जिसे पाठ्यपुस्तक-परीक्षा संस्कृति के रूप में, जिसका कि इस पर्चे में पहले जिक्र

* यह आलेख पूर्व अंक जुलाई-अगस्त, 2019 में प्रकाशित आलेख का शेष हिस्सा है।

किया गया है, एक उपजाऊ जमीन तैयार मिली। 'शिक्षक प्रशिक्षण' शब्द को 'शिक्षक शिक्षा' शब्द से बदलकर एनसीटीई ने इस क्षेत्र के अकादमीकरण के अपने इरादे जाहिर करने की कोशिश की। लेकिन, जब एनसीटीई ने अपनी वैधानिक शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए एक नियामक दायित्व निभाना प्रारम्भ किया, पुरानी बाधाओं में तेजी से नई बाधाएं भी जुड़ती चली गईं।

शिक्षक प्रशिक्षण के समक्ष मुख्य तौर पर तीन नईं चुनौतियां हैंः व्यवसायीकरण या बेलगाम निजीकरण, शिक्षण संस्थानों व स्कूलों में तकनीक द्वारा संचालित नव-व्यवहारवादी प्रभाव, तथा उच्च-शिक्षा का कमजोर होना जिसका असर शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेने वालों की गुणवत्ता पर पड़ता है। इनमें से सबसे पहली, यानि व्यवसायीकरण की चुनौती से निजात पाना सबसे मुश्किल रहा है। शिक्षक प्रशिक्षण का एक निजी महाविद्यालय खोलना इंजीनियरिंग व मेडिकल कॉलेज की तुलना में हमेशा अधिक आकर्षक रहा है क्योंकि, कम लागत में ही ऊंचा मुनाफा कमाया जा सकता है। छोटे व मंझोले उद्यमियों, जिनमें राजनीतिज्ञ भी शामिल हैं, के लिए शिक्षक प्रशिक्षण लाभप्रद क्षेत्र है। एनसीटीई की इस बड़ी संख्या में मौजूद निजी संस्थानों पर अपने नियम-कायदे थोपकर तथा अपने निरीक्षण दल को भेजकर इनका पालन सुनिश्चित करवाने की कोशिश भी अपने मकसद में नाकामयाब रही बल्कि, इसी पर उलटी आ पड़ी, जैसा कि वर्मा आयोग ने इंगित किया। 'अनुपस्थित' छात्रों तथा कम वेतनभोगी अध्यापकों के मसले ने भी पिछले सालों में कई विचित्र रूप धारण कर लिए। एनसीटीई ने हाल ही में माध्यमिक स्तर के शिक्षा स्नातक (बी.एड.) पाठ्यक्रमों के पाठ्यक्रम की मात्रा व अवधि को दोगुना कर दिया। बी.एड. व्यापार में सक्रिय कोई 2000 निजी संस्थानों को इस दो-वर्षीय प्रारूप के चलते शुरू में मांग में कमी झेलनी पड़ी लेकिन, फिर भी सामान्यतया अवधि दोगुनी हो जाने का मतलब था कि शुल्क के माध्यम से ज्यादा मुनाफा होना। प्रारम्भिक स्तर पर दो मुख्य कोर्स हैं, प्रारम्भिक शिक्षा में दो-वर्षीय डिप्लोमा (डी.एल.एड.) तथा चार-वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षा स्नातक (बी.एल.एड.), एक कम प्रचलित, व नवाचारी कार्यक्रम जो 1990 के दशक में दिल्ली विश्वविद्यालय में स्थापित किया गया। इस दूसरे कार्यक्रम का अधिक विस्तार नहीं हो सका क्योंकि, इससे निकलने के बाद भी स्कूली व्यवस्था में उतनी ही आय और ओहदा हासिल होता था जो कि छोटी अवधि के कोर्स डी.एल.एड. से हासिल होता। लेकिन डी.एल.एड. कोर्स का हाल भी भारत में फैले सैंकड़ों संस्थानों में वही हुआ जो कि बी.एड. का हुआ था- दिखावटी संसाधन व ढांचा, और अनुपस्थित छात्र। गौर कर सकते हैं कि केवल महाराष्ट्र में मौजूद भारी संख्या में घटिया डी.एल.एड. संस्थानों के खिलाफ एक याचिका के जवाब में सुप्रीम कोर्ट द्वारा वर्मा आयोग का गठन किया गया। वर्मा आयोग ने इसकी ठीक से जांच की और पाया की सभी आरोप सही थे, इसने महाराष्ट्र के सभी ऐसे संस्थानों को बंद करने के आदेश दिए और साथ ही पूरे देश के मद्देनजर बहुत से दूरदृष्टिपूर्ण सुझाव दिए। कई प्रशंसनीय कदम उठाये गए, लेकिन कुछ ही वर्षों में, व्यापक, खास तौर पर अकादमिक सुधार के मुद्दे, ज्यादा चौकस तरीके से नियमों को पालन करवाने की कवायद के पीछे दब गए। एनसीटीई द्वारा तैयार की गई नई निर्देशिका तथा पाठ्यक्रम का ढांचा हतोत्साहित करने वाले सांस्कृतिक तौर-तरीकों से उपजी उस मूल समस्या को नहीं छू पाए जिसका जिक्र गुप्ता (2018) ने काफी गहनता व विस्तार से किया है।

शिक्षणशास्त्र का बाजार

एक नई समस्या जिसका सामना शिक्षक प्रशिक्षण को करना पड़ता है, वह है सीखने व उससे जुड़े हुए सिद्धांतों पर नव-व्यवहारवादी विचारों का बढ़ता हुआ प्रभाव। ये विचार स्कूल व संस्थानों में नयी संस्कृति और तौर-तरीकों को जन्म दे रहे हैं और उन्हें उस दिशा में खींच रहे हैं जो आरटीई में स्पष्ट तौर पर और दृढ़ता से वर्णित विचारों के तीक्ष्ण विरोध में हैं। शैक्षिक तकनीक के अपने मायने और इसके द्वारा विभिन्न स्तरों पर मौजूद संस्थानों को प्रदत्त सेवाओं तथा कार्यक्षेत्र के संदर्भ में काफी विकास हुआ है। जिसे पहले शिक्षकों द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्ञान और गतिविधियों के साथ अंतःक्रिया करने हेतु उनकी क्षमताओं में वृद्धि करने के उपकरण के तौर पर देखा जाता था, वह आज सीखने के नए-नए अर्थों और इन अर्थों से जुड़ी हुई पद्धतियों का एक बड़ा पुलिंदा बन गई है।

यह गंभीर बदलाव, सूचना व संचार तकनीक (आईसीटी) तथा जिसे एल्किंड (2003) 'नवीन तकनीकी परिदृश्य' कहते हैं, से जुड़ा हुआ है। इसका शिक्षा पर, एक अवधारणा के बतौर तथा बच्चों के शिक्षण के लिए एक संस्थायीकृत व्यवस्था, दोनों पर, जो असर हुआ है उसका आकलन व विश्लेषण उन राष्ट्रों में भी मुश्किल रहा है जहां शिक्षाशास्त्र का बाजार' (कुमार 2012) भारत से कहीं अधिक विकसित रहा है। जो हम निश्चित तौर पर देख सकते हैं, वह है इसका व्यवहारवादी सिद्धांतों व सीखने की पद्धतियों पर पड़ने वाला पुनरुत्थानवादी प्रभाव। कम्प्यूटर आधारित अधिगम प्रणालियों पर सवार होकर नव-व्यवहारवादी विमर्श ने उस जमीन को फिर से हासिल कर लिया है जो यह कई देशों में सीखने के रचनावादी दृष्टिकोण व इससे जुड़ी हुई शिक्षणशास्त्रीय पद्धतियों के सामने गंवा बैठा था। भारत में रचनावादी दृष्टिकोण को दुनिया के अन्य हिस्सों की तुलना में काफी बाद में नीतिगत स्वीकार्यता हासिल हुई। एनसीएफ 2005 रचनावादी अधिगम सिद्धांत हिमायत करता है तथा व्यवहारवाद व भारतीय कक्षाओं और परीक्षा प्रणाली में इसके लगातार वर्चस्व की खुली आलोचना करता है। एनसीएफ 2005 में जिस मुख्य फर्क का जिक्र किया गया है, वह है कि रचनावादी दृष्टिकोण के अनुसार बच्चे अपने स्वयं के अनुभवों से ज्ञान का निर्माण करते हैं जबकि व्यवहारवाद नियोजित प्रलोभनों की भूमिका पर जोर देता है, एक समान मानकों व स्तरों की स्थापना करता है, और उनके अनुरूप निर्धारित योजना की वकालत करते हैं। आरटीई के अमल में आने के बाद दोनों दृष्टिकोणों के सापेक्षिक फायदों पर बहस शुरू हो गई। आरटीई रचनावाद तथा एनसीएफ 2005 की हिमायत करता है लेकिन, जमीनी हकीकत, दरअसल, रचनावाद के खिलाफ ही रही है।

शिक्षक प्रशिक्षण में भी एनसीटीई ने 2010 के एक दस्तावेज 'शिक्षक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा' में व्यवहारवादी से रचनावादी शिक्षणशास्त्र की तरफ रुख करने की हिमायत की। एक आम सहमती के संकेत नजर आते हुए भी, व्यवहारवादी पद्धति व्यवस्था में इस तरह जड़ें जमाए हुए थी कि उसको हिलाना मुश्किल रहा है। यह दो ताकतवर संस्थानों, जो कि देश में शैक्षिक विमर्श को दिशा देते हैं, के बीच मौजूद फर्क से साफ जाहिर होता है, एक संस्थान है 'शिक्षा, शोध व प्रशिक्षण के लिए राष्ट्रीय परिषद' (एनसीईआरटी) व दूसरा संस्थान है 'केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड' (सीबीएसई)। पहले संस्थान की स्थिति एनसीएफ-2005 में काफी स्पष्ट दिखाई देती है, जबकि दूसरे की कक्षा 10 और 12 के बाद सार्वजनिक परीक्षा आयोजित करवाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका लगातार ब्लूम टैक्सानौमी (ब्लूम 1956) में प्रस्तुत शैक्षिक उद्देश्यों के वर्गीकरण से बनती रही है। एक अन्य प्रभावशाली निकाय केन्द्रीय विद्यालय संगठन (केवीएस) के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है जो कि अपने 1000 से ज्यादा स्कूलों की मोनिटरिंग ब्लूम टेक्सानौमी में इस्तेमाल की गई शब्दावली के अनुरूप करता है व कक्षा-कक्ष जांचें भी इसी के अनुरूप तैयार की जाती हैं। आरटीई द्वारा अपनाए गए सीसीई का विरोध तथा परीक्षा प्रणाली की ओर लौटने की याचिका जिसका पहले जिक्र किया गया है, वे भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण के लगातार जारी वर्चस्व को इंगित करते हैं।

'नए तकनीकी परिदृश्य' ने इस वर्चस्व को और भी मजबूत किया है। निजी विद्यालयों के विभेदीकृत और फैलते हुए जाल ने विविध प्रकार के नए यंत्रों और उपकरणों को प्रोत्साहित किया है। इसमें स्मार्ट कक्षाओं, कम्प्यूटर लैब, सुरक्षा व निगरानी के यंत्र जैसे क्लोज्ड सर्किट टेलीविजन सीसीटीवी और प्रशासनिक यंत्र जैसे फिंगर-प्रिंट आधारित उपस्थिति मशीनें शामिल हैं। कई निजी विद्यालय माता-पिता के लिए बच्चों के स्कूल में होने के दौरान चाइल्ड ट्रैकिंग की सुविधा उपलब्ध करा रहे हैं। इंटरनेट आधारित अधिगम सामग्री व मोबाइल फोन जिसमें कई तरह की नेटवर्किंग और रिकॉर्डिंग की सुविधाएं उपलब्ध हैं और इसी के साथ लैपटॉप, ये सब मिलकर 'नए तकनीकी परिदृश्य' का निर्माण कर रहे हैं। हालांकि, यह परिदृश्य उच्च-स्तरीय निजी विद्यालय में कहीं अधिक देखने को मिलता है, पर राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों पर इसी तरह के वातावरण को निर्मित करने के लिए दबाव बनाया जा रहा है। उत्तर प्रदेश व राजस्थान की सरकारों ने गरीब वर्ग में मौजूद हुनर को पुरस्कृत करने के लिए प्रतीक के तौर पर मुफ्त लैपटॉप भी बांटे हैं।

मुद्दा यह नहीं है कि निजी व राजकीय विद्यालयों में इन उपकरणों की उपलब्धता और इनके इस्तेमाल के सन्दर्भ फर्क है। जो वास्तविक मुद्दा है, वह है प्रारम्भिक, खास तौर पर प्राथमिक स्कूलों में चलने वाली अधिगम प्रक्रिया पर इन तकनीक संचालित बदलावों से होने वाले असर को देखना। एनसीएफ 2005 बाल-केन्द्रित शिक्षण में व्यवहारिक अनुभवों पर जोर देता है। एनसीएफ 2005 के तत्वाधान में शैक्षिक तकनीक पर गठित राष्ट्रीय फोकस समूह ने भी प्राथमिक कक्षाओं में आईसीटी की उपयोगिता पर संदेहास्पद दृष्टि अपनाई है। समूह के आधार पत्र ने रेखांकित किया है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था में तकनीक को एक रामबाण औषधि की तरह देखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, ना कि एक सहायक की तरह। यह विचार भी स्कूलों में आईसीटी के मामले में किसी तरह की बहस को जन्म देने में नाकाम रहे हैं। बाजार और स्वयं राज्य सरकारों का दवाब इतना मजबूत साबित हुआ कि किसी तरह की नीति या बहस के पैदा होने की गुंजाईश ही नहीं रही। यह सही है कि यह कोई भारत की ही अनूठी समस्या नहीं है। आईसीटी उद्योग शैक्षिक संस्थानों को एक विकल्पहीन बाजार की तरह देखता है। आईसीटी से समृद्ध शिक्षण का बच्चों के सीखने पर होने वाले असर के संबंध में जो शोध हुए हैं, वे इसे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और सचेत रहने की मांग करते हैं लेकिन, 'नए तकनीकी परिदृश्य' की ताकत शोध के संभावित प्रभाव से कहीं अधिक है।

शिक्षक प्रशिक्षण के संदर्भ में भी, आईसीटी आधारित समाधानों ने काफी लोकप्रियता हासिल की है और नीति निर्धारकों का समर्थन भी। आरटीई में निर्धारित छात्र-शिक्षक अनुपात को देखते हुए प्रशिक्षित शिक्षकों की भारी कमी है। इस खाई को पाटने के लिए दूरस्त शिक्षा पाठ्यक्रमों को लाया गया है। इनके माध्यम से प्रदान की जाने वाले प्रशिक्षण की गुणवत्ता पर नीति निर्धारक हलकों में सवाल उठाते रहे हैं लेकिन, इस तरह के सुझावों के प्रति आकर्षण को रोकना मुश्किल रहा है। पुरानी शैली के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में भी आईसीटी उपकरणों की खरीद पर होने वाले खर्च को अन्य किसी तरह के खर्च पर वरीयता दी जा रही है जैसे, शिक्षकों की भर्ती पर होने वाला खर्च, या पुस्तकालय और विज्ञान प्रयोगशालओं पर होने वाला खर्च। आईसीटी को इस तरह देखा जा रहा है जैसे यह शिक्षक प्रशिक्षणों के लिए हर मर्ज की एक दवा है। जो भी हो, लेकिन आईसीटी के इस्तेमाल के लिए प्रशिक्षण ज्यादा स्पष्ट दिखाई दे रहा है, बजाय चिन्तनात्मक शिक्षण के जरिए आरटीई के बाल-केन्द्रित दृष्टिकोण को अंजाम देने के लिए होने वाले प्रशिक्षण के जो कि हर बच्चे में सवाल उठाने और पड़ताल करने की क्षमता विकसित करने में सक्षम है।

उच्च-शिक्षा से रिश्ता

शिक्षक प्रशिक्षण किसी भी शैक्षिक सुधार प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण कारक की भूमिका निभाता है, लेकिन किसी भी तरह के शैक्षिक सुधार में योगदान देने की इसकी अपनी काबिलियत इस बात पर निर्भर करती है कि इसके उच्च-शिक्षा के साथ कैसे रिश्ते हैं। इस रिश्ते की पड़ताल करने के लिए उच्च-शिक्षा को एक ऐसे संसाधन की तरह देखा जाना चाहिए जहां से एक शिक्षक, बतौर शिक्षक, अपनी योग्यता का दावा पेश करता है। स्कूली शिक्षा के प्रारंभिक चरण के शिक्षक पारंपरिक तौर पर दो तरह के लोग होते थे। जो प्राथमिक स्तर के लिए भर्ती किए जाते थे, उनमें माध्यमिक स्तर की योग्यता होनी लाजमी थी और जिन्हें उच्च-प्राथमिक कक्षाओं के लिए भर्ती होते थे उनके पास स्नातक की डिग्री होती थी। पिछले दिनों में, प्राथमिक स्तर के लिए भी स्नातक की डिग्री वाले लोग आने लगे हैं। यह आंशिक तौर पर स्नाताक बेरोजगारों की वजह से है, लेकिन इसे नीतिगत समर्थन भी मिल रहा है, जहां यह मान्यता शामिल है कि प्राथमिक स्तर के शिक्षकों के पास भी कॉलेज स्तर की योग्यता होनी चाहिए (एनसीटीई 2010)।

इसके वाबजूद कि प्राथमिक स्कूल में शिक्षण हेतु आने वाले शिक्षकों का एक हिस्सा डिग्री-पूर्व योग्यता के साथ आता रहा है, उनकी गुणवत्ता और रुझान को आकार देने में उच्च-शिक्षा की भूमिका को नाकारा नहीं जा सकता क्योंकि, जिन्होंने उन्हें माध्यमिक या उच्च-माध्यमिक स्तर पर पढ़ाया, उनके पास कॉलेज या विश्वविद्यालय स्तर की योग्यता होना जरूरी था। कॉलेज शिक्षा से प्रशिक्षण संस्थानों को किस तरह के अभ्यर्थी मिल रहे हैं, यह इस बात को निर्धारित करने में मुख्य भूमिका निभाता है कि प्रशिक्षण उनकी विषयगत समझ में किस तरह का योगदान कर पायेगा। प्रशिक्षण

के दौरान इस समझ को और निखारा जा सके व शिक्षणशास्त्रीय क्षमताओं को विकसित किया जा सके, यह तभी संभव हो सकता है जबकि उस विषय की समझ जिसे शिक्षक पढ़ाने जा रहा है, एक खास स्वीकार्य गुणवत्ता की हो। बमुश्किल ही कोई भी प्रशिक्षण संस्थान जीरो से शुरू कर सकता है। बाल मनोविज्ञान का परिचय देने व शिक्षणशास्त्र व अन्य शैक्षिक सिद्धांतों पर बात करने से पहले किसी विषय पर समझ बनाने का काम बिलकुल प्रारम्भ से नहीं किया जा सकता। यही वजह है कि भारत में उच्च शिक्षा जिस संकट से गुजर रही है, वह आरटीई के क्रियान्वयन के लिए सीधे तौर पर प्रासंगिक हो उठती है। इस संकट को पिछले सालों में कई अलग-अलग दृष्टिकोणों से जांचा परखा और देखा गया है। इस संकट को वित्तीय संसाधनों के संदर्भ में देखा गया है, प्रशासनिक समस्याओं के संदर्भ में देखा गया है, व साथ ही गुणवत्ता और शिक्षित युवा के रोजगार से जुड़े हुए प्रश्नों के संदर्भ में भी (यशपाल 2009)। वर्मा आयोग ने शिक्षक प्रशिक्षण के उच्च अकादमिक अधिगम व शोध से अलगाव को रेखांकित किया था और इसे निम्न-गुणवत्ता के लिए एक मुख्य कारक की तरह देखा था। आयोग ने यह सुझाव दिया था कि सभी स्तरों के लिए शिक्षक प्रशिक्षण को उच्च शिक्षा के क्षेत्र के रूप में माना जाना चाहिए।

शासनिक आचार व उत्तर-कल्याणकारी राज्य

'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द भारत की राजनितिक अर्थव्यवस्था के वर्तमान दौर को इंगित करता है जो 1980 के दशक के अंत में शुरू हुआ। यह आर्थिक नीति की दिशा में एक क्रांतिकारी बदलाव से जुड़ा हुआ है जो 1980 के अंत में संघीय सरकार को जिस वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा था उसके बाद अस्तित्व में आया। सार्वजनिक विमर्श में इस संकट के बाद के दौर को वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की दिशा में हुए आर्थिक सुधारों के दौर के रूप में जाना जाता है। (कैम्ब्रिज और अन्य 2013; कुरियन 1994)। उदारीकरण के मायने थे भारत की अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी के लिए खोल देना व पारंपरिक तौर पर राज्य नियंत्रित क्षेत्रों में निजी व्यापार के अवसरों को बढ़ावा देना जैसे शिक्षा, उच्च व स्कूली शिक्षा दोनों, और स्वास्थ्य। कई अवलोकनकर्ताओं के अनुसार इन आर्थिक बदलावों ने भारत की सामान्य राजनीतिक आचार व्यवहार में एक तबदीली पैदा कर दी यानी विभिन्न क्षेत्रों में उदार विमर्श और संवाद के लिए जगह कम हो जाना जिसमें आर्थिक क्षेत्र भी शामिल हैं। आजादी के बाद लोक-कल्याणकारिता पर जो सहमति थी वह भी खत्म हो गयी क्योंकि निजी वित्त ने दो मुख्य कल्याणकारी क्षेत्रों, शिक्षा व स्वास्थ्य पर अपनी पकड़ को और मजबूत बना लिया। विमर्श में 'प्रशासन' को लोकप्रियता मिलने लगी जिससे राज्य की भूमिका नियमन और देखरेख तक सीमित हो गयी। निजी पूंजी को अधिक जगह मिल सके इस हेतु राज्य की प्रत्यक्ष दखल को धीरे धीरे कम किया गया और इसका उद्भव के प्रतीक के तौर पर स्वागत किया गया, मानो यह नौकरशाही के नियंत्रण और राजनीतिक दखलंदाजी का अंत था।

इस सामान्य संक्रमण के सबसे पहले लक्षण 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनपीई) और 1992 में जारी कार्यक्रम (प्रोग्राम ऑफ एक्शन-पीओए) के बीच के फर्क में दिखाई दिए। यह वह दौर था जब निजी पूंजी, घरेलू व विदेशी दोनों ही, के पक्ष में आर्थिक सुधार का विमर्श एक स्पष्ट शक्ल ले रहा था। पीओए ने एनपीई को नए आर्थिक परिदृश्य के साथ समायोजित करने की कोशिश की, जो कि 1991 में ज्यादा नाटकीय ढंग से तब उभरा जब नई केन्द्रीय सरकार द्वारा 'ढांचागत समायोजन कार्यक्रम' को स्वीकृति प्रदान की गई। वैश्विक कोर्पोरेट पूंजी और अंतर्राष्ट्रीय दानदाता संस्थाओं की कार्यप्रणाली के अनुरूप भारत का 'समायोजन' राज्य की भूमिका और अस्मिता में एक महत्वपूर्ण बदलाव का संकेत था। 'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द इसी बदलाव को इंगित करता है। इसे ज्यादा बड़े पैमाने पर इस्तेमाल शब्द 'नव-उदारवादी राज्य' की तुलना में अधिक प्राथमिकता दी गई है, क्योंकि उसे समझने के लिए उदारवाद के इतिहास व इसके विभिन्न विमर्शों से परिचित होने की आवश्यकता है। 'नव-उदारवाद' शब्द का इस्तेमाल आजकल वैश्विक वास्तविकता को इंगित करने के लिए अधिक होता है, इसलिए यह विभिन्न राष्ट्रों के बीच किसी भी तरह के महत्त्वपूर्ण फर्क या विशिष्टता में कमी की धारणा को संप्रेषित करता है। भारतीय राज्य के संदर्भ में, जो कि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत गठित हुआ, आर्थिक विकास का वर्तमान दौर, विभिन्न कार्यों और जिम्मेदारियों को

कॉर्पोरेट पूंजी के प्रबंधन विशेषज्ञों को सौंपने से जुड़ा है। राज्य की शैक्षिक जिम्मेदारियों का हस्तान्तरण 'दक्षता' के नाम पर हो रहा है। सांस्थानिक या प्रकार्यात्मक हस्तांतरण के हर मामले में निजी पूंजी शामिल नहीं है, क्योंकि शिक्षा में निवेश हेतु बड़ी मात्रा में परोपकारी पूंजी का संचय हो रहा है। परोपकार के नाम पर कई तरह की शैक्षिक जिम्मेदारियों को हासिल किया जा सकता है, क्योंकि इसमें इसका राजनितिक रूप से सही (पॉलिटिकली करेक्ट) होना मदद करता है और लोकतंत्र को लेकर कोई कुलबुलाहट भी नहीं होतीय इसके वाबजूद, जिम्मेदारियां बड़ी आसानी से लोकतंत्र के हाथों से निकलकर प्रबंधन के हाथों में चली जाती हैं। 'उत्तर-कल्याणकारी राज्य' शब्द इस तरह के बदलाव को सबसे बेहतर अभिव्यक्ति प्रदान करता है जहां इसकी अपनी जनहितकारी भूमिका ऐसी संस्कृति में गुम हो जाती है जिससे राज्य के बुनियादी प्रकार्यों में आये बदलाव पर आसानी से राजनैतिक सहमती हासिल हो जाती है।

यह सवाल उठ सकता है कि क्या औपनिवेशिक शासन के दौरान गठित भारतीय राज्य किसी समय में एक वास्तविक कल्याणकारी राज्य था। ऐसे सवाल का सबसे बेहतर जवाब संविधान में मिलता है जो भारत में कल्याणकारी समाज और राज्य का निर्माण करने की अभिलाषा प्रदान करता है। इस तरह की अभिलाषा रूपान्तरकारी दृष्टि और मूल्यों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, जिसमें सामाजिक न्याय और अधिकारों की समानता शामिल है। स्वाधीनता के बाद के शुरुआती दशकों में शिक्षा में जिन नीतियों को अपनाया गया, उनमें हम एक जनहितकारी झुकाव देख सकते हैं, इसके बावजूद कि इन नीतियों के लिए पर्याप्त वित्तीय प्रावधान नहीं था। इस तरह का झुकाव 1986 की शिक्षा नीति में अंतिम बार देखा गया। जैसा कि आगे हम देखेंगे कि इस पर जल्दी ही पुनर्विचार हुआ और इसे नए तरह से पेश किया गया जहां उद्यमिता की उन ताकतों से समायोजन स्थापित किया जाना था, जिनकी नजर में शिक्षा उत्पादों को बेचने और मुनाफे के अवसरों के लिए एक बड़ा क्षेत्र था। इस तरह के बदलाव हेतु एक बाहरी वैश्विक कार्य प्रणाली तब तक पहले से ही मौजूद थी जैसा कि टॉमलिंसन (2001) और स्लॉटर व लेस्ली (1991) जैसे विद्वानों ने रेखांकित किया है।

संसद द्वारा एक संघीय कानून के बतौर आरटीई के पारित होने के बाद यह धारणा थी कि आरटीई के क्रियान्वयन से राज्य पर जो वित्तीय बोझ पड़ने वाला था उसका एक बड़ा हिस्सा केंद्र सरकार वहन करेगी। शुरू में इस प्रक्रिया को एसएसए, संघीय व संघीय माध्यम से प्राप्त अंतर्राष्ट्रीय वित्त से पोषित एक राष्ट्रीय कार्यक्रम के एक स्वाभाविक विस्तार के तौर पर देखा गया। लेकिन, 2013 में एसएसए के फण्ड के सिकुड़ने के बाद केंद्र सरकार ने आरटीई के क्रियान्वयन को राज्य की जिम्मेदारी की तरह देखना शुरू कर दिया। कई राज्यों में, यह जिम्मेदारी कॉर्पोरेट पूंजी और गैर-सरकारी संस्थाओं को सौंपी जा रही है (नाम्बिसन और बॉल 2010)। कॉर्पोरेट पूंजी के लिए दूरस्थ प्रशिक्षण कार्यक्रमों में तकनीक का इस्तेमाल एक लुभावना विकल्प साबित हुआ है। इसमें उपकरणों की बड़ी मात्रा में पूर्ति करना होता है। स्कूल व्यापार के लिए एक बड़ी जगह बन जाती है, ना केवल शिक्षणशास्त्रीय उपकरण व सामग्री के लिए बल्कि निगरानी तकनीक जैसे, सीसीटीवी के लिए भी। उत्पादों और सेवाओं के बड़े पैमाने पर फैले बाजार में राज्य द्वारा संचालित स्कूलों को शामिल करने में सार्वजानिक-निजी साझेदारी ने मुख्य भूमिका अदा की है। इस प्रक्रिया ने कॉर्पोरेट-प्रबंधन संस्कृति को स्कूल प्रशासन और कक्षा प्रक्रिया को संचालित करने का मौका दिया। 'परिणाम' आधारित शिक्षण इन नए नीतिगत तौर-तरीकों का केन्द्रीय पहलू है। इसकी मांग है कि शिक्षक अपनी भूमिका को एक पहले से नियोजित शिक्षाक्रम, जो कि नियमित जांच से बंधा हुआ है, के क्रियान्वयन तक सीमित रखें। परिणाम आधारित शिक्षणशास्त्र में उनका प्रशिक्षण उन्हें सीखने को केवल परीक्षा की तैयारी के तौर पर देखने में मदद करता है। 'दक्षता' और 'उत्तरदायित्व' जैसे शब्द इस परीक्षा आधारित शिक्षण की कार्यप्रणाली के लिए औचित्य प्रदान करते हैं। इससे शिक्षक आरटीई के मानवीय मुद्दों और धारणाओं को नजरअंदाज करने में सक्षम हो जाते हैं और इन लक्ष्यों से जुड़े हुई गुणवत्ता की अवधारणा को भी। यदि आरटीई कानून में इस तरह से संशोधन हो जाए कि इससे वार्षिक परीक्षाओं की वापसी संभव हो सके तो इससे आरटीई के सुधार कार्यक्रम को और झटका लगेगा।

उस कार्यक्रम का फोकस बच्चों के लिए जगह बनाना और इस जगह को पहचानने में शिक्षकों के सामर्थ्य को बढ़ाना था। हमारे जैसी इतनी स्तरीकृत और पितृसत्तात्मक समाज में, बच्चों की जगह को पहचानने के मायने हैं जाति, लिंग, वर्ग और धर्म से जुड़ी हुई अपनी खुद की धारणाओं और पूर्वाग्रहों से बाहर निकलना। शिक्षक के लिए यह एक बड़ी चुनौती है। भारत के मामले में, प्रारम्भिक शिक्षा को बाल-केन्द्रित बनाने के आरटीई के लक्ष्य के मायने हैं बच्चों को सामाजिक श्रेणी की तरह स्वीकार करने में एक क्रांतिकारी बदलाव (कुमार 2016)। शिक्षक द्वारा ऐसी किसी भी श्रेणी को स्वीकार करना और इसका दायरा इस पर निर्भर करता है कि शिक्षक अपनी स्वयं की शिक्षा और प्रशिक्षण के जरिये समाज में अपनी भूमिका को देखने के लिए कितने तैयार हैं तथा वे सीखने अर्थ को अनुभव के बतौर देखने में कितने स्पष्ट हैं। आरटीई ऐसे शिक्षकों की मांग करता है जो असफलता के भय और शारीरिक दण्ड का इस्तेमाल बच्चों को प्रेरित करने में नहीं करते। आरटीई सामाजिक गैर-बराबरी पर असर डाल सकता है यदि शिक्षक ऐसी संस्कृति का निर्माण करने में अपनी पेशेवर जिम्मेदारी को समझते हैं जहां बच्चे गरिमा और स्वायत्तता महसूस करें। किसी दलित बच्चे या बालिका के लिए बराबरी सीखने के रोजमर्रा के अनुभवों से जुडी हुई होती है जहां गरिमा और सहजता से भरा माहौल हो। परीक्षा में प्राप्त अंक समानता की भावना स्थापित नहीं करते, ना ही परिणाम आधारित शिक्षण से समानता जैसे सामाजिक लक्ष्य के लिए दक्षता पैदा होती है। यही कारण है कि ठोस परिणाम और उत्तरदायित्व पर जो वर्तमान में इतना जोर है, वह गलत और खोखला है। इससे बस अधिक से अधिक सार्वजनीन उपस्थिति को बढ़ावा मिल सकता है, ना कि सीखने के अनुभवों को जो कि बच्चों को बराबरी के एक जरूरी तत्व के तौर पर सम्मान महसूस करने के काबिल बनाती है। जो लोग विशिष्ट मुद्दों के लिए गुटबाजी करते हैं उनके द्वारा, शायद ना चाहते हुए भी, आरटीई की एक संकीर्ण समझ को प्रोत्साहन मिलता है। वे आरटीई के क्रियान्वयन को शुद्ध प्रशासनिक अर्थ में देखते हैं, इससे जो जगह आरटीई बच्चे और उनके शिक्षकों के लिए बनाना चाहता है, उससे ध्यान हट जाता है, यहां तक कि उसके खिलाफ ही काम हो रहा होता है। कभी-कभी इस तरह की मांग राज्य को प्रारम्भिक शिक्षा के प्रति उसकी अपनी जिम्मेदारी से बचने और इसे एनजीओ, जिनमें वे भी शामिल हैं जिनके कॉर्पोरेट हित होते हैं, के हवाले कर देने के लिए प्रोत्साहित करती है। यह वास्तव में आरटीई जैसे जटिल कानून के एक सामाजिक वास्तविकता बनने की राह में आने वाली भ्रामक कार्यप्रणाली है। कम से कम यह तो जरूर कह सकते हैं कि यह कार्यप्रणाली आज उससे कम भ्रामक नहीं है जितनी कि यह आरटीई के बनने और पारित होने से पहले थी। आरटीई भारतीय लोकतंत्र की उन कई विरोधाभासी उपलब्धियों में से एक है जो इसके गहरे सामाजिक विभाजन से जूझने के संघर्ष और अपने सामाजिक दायित्वों की अनिच्छापूर्ण स्वीकारोक्ति की राज्य की औपनिवेशक विरासत की उपज थीं। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com